॥ ओ३म् ॥

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आध्यात्मिक साधना

लेखक :

महावीर सिंह 'मुमुक्षु'

प्रकाशक :

**आर्य समाज रेलवे हरथला कालोनी
मुरादाबाद**

मूल्य :

आगामी प्रकाशन हेतु यथा शक्ति सहयोग

प्रथम संस्करण

सम्वत् २०४२ विक्रमी **अक्तूबर ८५**

प्रीते

प्रस्तुत पुस्तक का मूल्य

हम आप से प्रस्तुत पुस्तक का मूल्य नहीं ले रहे, अपितु सप्रेम भेंट कर रहे हैं। हम चाहते हैं कि भविष्य में भी आप को इसी प्रकार का उत्तम-उत्तम साहित्य भेंट करते रहें। पर साहित्य प्रकाशन के लिये धन तो चाहिए ही। अत: आगामी प्रकाशन के लिये हम आपसे सहयोग की अपील करते हैं। **आगामी प्रकाशन के लिये यथाशक्ति सहयोग ही प्रस्तुत पुस्तक का मूल्य है। क्या चुकायेंगे आप ?**

हम चाहते हैं कि हमारा साहित्य प्रचार-यज्ञ अनवरत रूप एवं अबोध गति से निरन्तर चलता रहे। इसके लिये आप का सात्विक सहयोग अपेक्षित है। कृपया सहयोग देकर पुण्य अर्जित करें।

नोट—सहयोग स्वरूप कम से कम दस रुपये प्रदान करने वाले महानुभावों का नाम आगामी प्रकाशन में कृतज्ञतापूर्वक प्रकाशित किया जायेगा।

-: सहयोगाकांक्षी :-

हरिवंशलाल कुमार — प्रधान
रामप्रसाद गुप्त — प्रचार अधिष्ठाता
महावीरसिंह 'मुमुक्षु' — मन्त्री

यशपाल 'आर्यबन्धु' — प्रचार मन्त्री
वेद प्रकाश रस्तौगी — कोषाध्यक्ष

आर्य समाज रेलवे हरथला कालोनी, मुरादाबाद

हमारे सहयोगी

आर्य समाज रेलवे हरथला कालोनी, मुरादाबाद के साहित्य प्रकाशन यज्ञ में निम्न महानुभावों ने निम्नलिखित धन-राशि प्रदान की। आभारी हैं।

१-	सर्वश्री देवसेन दुग्गल	७१)
२-	आर० के० दुवे	५०)
३-	कौकोटि वीरप्पा गुप्ता, ताडूर-आँध्र प्रदेश	५०)
४-	योगेन्द्र कुमार	२१)
५-	एस० वी० सरन	२०)
६-	एस० के० अग्रवाल	२०)
७-	इन्द्रजीत काम्बोज	२०)
८-	एच० एल० राम	२०)
९-	एस० के० शर्मा	२०)
१०-	शिव सरन जी	२१)
११-	सूरज नारायण जी, लखनऊ	११)
१२-	जगत स्वरूप जी	११)
१३-	पी० के० माथुर, लखनऊ	११)
१४-	ए० के० दीक्षित	११)
१५-	वीदा संगरथा आर्य, ताण्डूर-आँध्र प्रदेश	१०)
१६-	हरिशंकर गर्ग	१०)

सभी दानदाताओं के आभारी हैं।

पुस्तकों की प्राप्ति तथा धन आदि भेजने का पता:—

मंत्री-आर्यसमाज, रेलवे हरथला कालोनी, मुरादाबाद–२४४००१

आर्य समाज रेलवे हरथला कालोनी मुरादाबाद

के

प्रचार कार्य का संक्षिप्त विवरण

वर्ष-१९८५

जनपद मुरादाबाद में वेद प्रचार हेतु यह संस्था पूर्ण रूप से प्रयत्नशील है। एक ओर जहाँ यज्ञ हवन के द्वारा विभिन्न संस्कारों के अवसर पर घर-घर में वैदिक धर्म के प्रचार करने के लिये आर्य पुरोहित श्री ऋषिपाल शास्त्री प्रयत्नशील हैं वहीं दूसरी ओर यशस्वी लेखक श्री यशपाल आर्यबन्धु व महावीर सिंह 'मुमुक्षु' द्वारा लिखित साहित्य के माध्यम से जन-जन तक वैदिक विचार-धारा को पहुँचाने का सफल प्रयास किया जा रहा है। इस वर्ष आर्य समाज मन्दिर के प्रांगण में सभी वैदिक पर्वों तथा विशेष विद्वानों की कथाओं का आयोजन किया गया। साथ ही जनपद में स्थित कोकरपुर, महलकपुर. लदावली, अगवानपुर, बंगलागाँव, शैरकोई, नयागाँव. भदासना, डयोढी, हरथला, भटावली, शेरुआ, खासपुर, ठाकुरद्वारा, विजयरामपुर आदि स्थानों पर वैदिक धर्म का प्रचार किया गया।

आर्य समाज के विद्वान युवा मन्त्री श्री महावीर सिंह 'मुमुक्षु' एम०ए० (दर्शन) एल०एल०बी० द्वारा उत्तर प्रदेश में काशीपुर, रामनगर, बहादराबाद, बोंगला, रुड़की, बलरामपुर (गोण्डा)

मान्डवास (सहारनपुर) लक्सर आदि स्थानों के अतिरिक्त आँध्र प्रदेश स्थित हैदराबाद, कोडंगल, कोसगी ताण्डूर, जहीराबाद, चरकपल्ली, धनाश्री, कोहृरि, सदाशिवपेठ तथा संगारेड्डी एवं महाराष्ट्र स्थित हिंगोली, अकोला व अकोट आदि स्थानों पर वैदिक धर्म का प्रचार किया गया।

—रामप्रसाद गुप्त
प्रचार अधिष्ठाता

॥ ओ३म् ॥

दो शब्द

डेकार्ट ने कहा था कि I think therefore I am. अर्थात मैं सोचता हूँ अतः मै हूँ। पर मैं क्या हूँ ? यह प्रश्न फिर भी शेष रह जाता है। इस प्रश्न का उत्तर यदि विकासवादियों से पूछा जाये, तो वे कहेंगे कि यह "मैं" एक कोरी कल्पना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जिसे संसार की प्रायः समस्त जातियों को उनके जंगली बाप-दादाओं ने विरसे में दी थी। कुछ जड़-वादी यही कहेंगे कि "मैं" इस भौतिक शरीर के अतिरिक्त कुछ नहीं। अतः इसो को पुष्ट करना चाहिए। वैरागी लोग इस प्रश्न के उत्तर में शायद यह कहें कि--

"मिट्टी का मन, मिट्टी का तन।
पल भर जीवन, मेरा परिचय॥"

पर इन्द्र सरीखा तत्व-चिन्तन करने वाला तो यही सोचेगा कि-- यह शरीर तो घटने-बढ़ने वाला परिवर्तनशील, क्षणभंगुर और अनित्य है। फिर क्या मैं भी घटने-बढ़ने वाला, परिवर्तन-शील क्षणभगुर एवं नाशवान हूँ ? और तब उसे कवि के निम्न शब्द स्मरण हो आयेंगे—

Dust thou art, to dust returnest.
Was not spoken of the soul.

"भस्मान्तं शरीरं" इस वेद वचन के अनुसार शरीर का अन्त भस्म होने में है। किन्तु यह अन्त शरीर का ही है, आत्मा का अन्त नहीं। आत्मा तो अजर, अमर, अविनाशी है। हां कर्मानुसार वह विभिन्न शरीरों को अवश्य धारण करेगा। आत्मा के संयोग से ही शरीर में चेतनता आती है। जब तक यह आत्मा शरीर में निवास करता है शरीर की रक्षा करते हैं, उसें सजाते और संवारते हैं किन्तु आत्मा के निकलते ही उसे जलाने की चिन्ता करनी पड़ती है। अतः मुख्य एवं प्रधान वस्तु तो यह आत्मा ही है। अतः "मैं" शरीर नहीं, आत्मा हूँ।

पर यह आत्मा कैसा है ? अर्थात् इसका स्वरूप क्या है ? यही जानने योग्य है। आज कोई आत्मा को प्रकृति से उत्पन्न हुआ हुआ मानते हैं, तो कोई ईश्वर का अंश। बात यहीं तक समाप्त नहीं होती "अहं ब्रह्मास्मि" का उद्घोष कर हम अपने को ब्रह्म कहने में भी संकोच नहीं करते। तात्पर्य यह कि हमने "मैं" की कल्पना, एक कल्पना से लेकर ब्रह्म तक कर डाली है। पर समस्या फिर भी ज्यों की त्यों बनी है कि अन्ततः हम हैं क्या ? इसका वास्तविक और यथार्थ उत्तर वेद और वैदिक साहित्य ही दे पाता है, अन्य कोई नहीं। वेद के शब्दों में "मैं कौन हूँ ?" इसका उत्तर इस प्रकार है--"अहमिन्द्रो" अर्थात् मैं इन्द्रियों का स्वामी इन्द्र हूं। यह इन्द्र ही कर्त्ता और भोक्ता है। अथर्ववेद में इन इन्द्रियों के समूह शरीर और इनके स्वामी 'इन्द्र' के सम्बन्धों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है। यथा--

"इयं कल्याणण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता श्ये स यश्चकार जजार ।"

अर्थात् कल्याण करने वाला यह आत्मदेवता अमर है और मर्त्य प्राणी के घर अर्थात् शरीर में रहता है। जिसे आत्म-वोध हो जाता है, वही आनन्द की प्राप्ति करता है। वही स्तुति करने योग्य वनता है। पर यह आत्म-वोध है वड़ा कठिन। कहा भी है—

'औरों से मिलना वड़ा सरल है "साकी" ।
अपनी हस्ती से मुलाकात वड़ी मुश्किल है ।।'

और वास्तविकता तो यह है कि—

ढूंढता फिरता हूं मैं 'इकवाल' अपने आप को ।
आप ही गोया मुसाफिर आप ही मन्जिल हूं मैं ।।

वस्तुतः मेरा प्रथम लक्ष्य तो आत्म-दर्शन ही है, परमात्मा-दर्शन तो उसके वाद की वस्तु है। किसी ने ठीक ही कहा है—

पहले अपने की तो हम कर लें तल्लाश ।
उसका मिलना तो कुछ मुश्किल नहीं है ।।

मुश्किल काम तो अपने को जानना है। यह अपने को जानना भी इसी जन्म में ही आवश्यक है क्योंकि जैसा कि केनोपनिषद् में कहा है—"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न वेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। अर्थात् इसी जन्म में

यदि आत्मा को जान लिया तो जन्म सफल है, नहीं जाना तो जीवन निष्फल हुआ और बड़ी हानि हुई। आत्मबोध हुए विना ही जीवन समाप्त कर डालना, जीवन का दुरुपयोग करना है। यही चेतावनी श्री महावीर सिंह जी "मुमुक्षु" द्वारा लिखित यह पुस्तक देती है। आत्मानुभूति ही प्रस्तुत पुस्तक का लक्ष्य है और अपने लक्ष्य में लेखक पूर्ण सफल हुआ है। बधाई।

विनीतः-

यशपाल आर्यबंधु

आर्य निवास, चन्द्र नगर
मुरादाबाद

आर्य समाज, रेलवे हरथला कालोनी में—

१- पुरोहित की सेवायें उपलब्ध है।
२- होम्यो चिकित्सालय आरम्भ।

॥ ओ३म् ॥

प्रस्तावना

ईश्वर ने सृष्टि की रचना जीव के कल्याण के लिये की, मानव इसी विलक्षण एवं अदभुत रचना का एक अंग है। इसको यह सुन्दर चोला इसीलिये मिला था कि वह इसके द्वारा जन्म मरण के बन्धन से छूट परम आनन्द प्राप्त करले। परन्तु यह अपने कर्तव्य कर्म को भूलकर माया मोह के बन्धनों में जकड़ता जा रहा है। शरीर को ही सब कुछ समझकर उचित अनुचित का भेद किये बिना उसी के भरण पोषण में अपने जन्म की इतिश्री समझ रहा है। मानव अपनी वास्तविक शक्तियों को न समझकर नीच श्रेणी को प्राप्त हो रहा है। जहाँ कुछ मनुष्य अपनी शक्ति को कई गुना समझकर हानि उठा रहे हैं वहीं शक्ति से कम कार्य करने से शक्ति व्यर्थ जा रही है और विफलता हाथ लग रही है। इस प्रकार हम अपने जीवन को नष्ट कर रहे हैं। मेरे विचार से हम अपने बारे में यदि विचार करना प्रारम्भ कर दें और अपने वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न करें तथा नित्य प्रति के व्यवहार में प्रत्येक कार्य को करने से पहले परीक्षण करलें कि वे आत्मतत्व के गौरव के अनुरूप हैं अथवा नहीं तब हम अनुभव करेंगे कि हमारे जीवन से मिथ्या प्रदर्शन, बाहरी पूजा, दिखावा द्वेष घृणा, शत्रुता इत्यादि दूर होते चले जायेंगे फिर वह संसार की इन नश्वर चीजों के लिये किसी की हत्या नहीं करेगा उसके अन्दर प्रेम करुणा और उदारता का वास होगा और इन गुणों का ही प्रयास अपने जीवन

में कर्मक्षेत्र में करेगा जिससे अपने साथ-साथ दूसरों को भी सुख पहुँचायेगा। आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होते हुए मुझे जो प्रत्यक्ष अनुभव हुए हैं उन्हीं के स्पष्टीकरण के हेतु यह विवेचन लिख रहा हूँ। आशा है उन्नति के पथ पर चलने वाले अन्य पथिकों को भी इससे कुछ लाभ होगा।

विनीतः-

महावीर सिंह "मुमुक्षु"

एम० ए० (उत्तरार्द्ध) एल० एल० बी०

वैदिक धर्म प्रचारक

आर्य समाज रेलवे हरथला कालौनी

मुरादाबाद

॥ ओ३म् ॥

आध्यात्मिक साधना

हमें आपके सम्मुख सदियों पुराना परन्तु हमेशा ताजा रहने वाला संदेश रखना है क्योंकि हमारा विश्वास है कि उससे हमें हमेशा प्रेरणा प्राप्त होती है। एक कथा प्रचलित है कि द्वापर के अन्त में ऋषि शमीक ने महाराज परीक्षित को यह संदेश भेजा कि शृंगी ऋषि के श्राप से सात दिन वाद तक्षक के काटने से राजा मृत्यु को प्राप्त होगा। संदेश सुनते ही महाराज विह्वल हो उठे। केवल सात दिन पश्चात मृत्यु ! महाराज को इस समय ज्ञान हुआ कि मानव जीवन कितना अमूल्य है। उन्होंने एक सरसरी नजर अपने सम्पूर्ण जीवन पर डाली तो उन्हें प्रतीत हुआ कि वास्तव में अव तक उन्होंने कुछ भी ठोस या स्थायी कार्य नहीं किया है। अपनी वाल्यावस्था से मृत्यु तक के दीर्घकाल को हलके जीवन तथा निम्न दृष्टिकोण के साथ गँवा दिया है। अपनी वड़ी भूल का अनुभव करके पश्चाताप की वेदना से विक्षुब्ध हो उठे। सात दिन के अल्पकाल में ही राजा ने अपना परलोक सुधारने का भागीरथ प्रयत्न प्रारम्भ किया। उन्होंने पूर्ण श्रद्धा से आध्यात्मिक अनुष्ठान किया। शेष जीवन का प्रत्येक पल उन्होंने आत्मिक चिन्तन में लगाया। कुछ ही समय में उनके रोम रोम से सच्ची आध्यात्मिकता प्रकाशित होने लगी। उन्हें आत्मा की दीक्षा प्राप्त हुई और उन्होंने वास्तविक जीवन में पदार्पण किया। मृत्यु का भय उनके लिये एक नया पथ दिखाने वाला बना और परिणामस्वरूप वे

आत्मवान् पुरुष बन गये। यह जीवन में परिवर्तन इसलिये हुआ कि राजा को मृत्यु के भय से यह प्रतीति हुई कि कुछ समय बाद यह जीवन लीला समाप्त होने वाली है और उसका ध्यान अपनी ओर गया परिणामतः उसने शेष जीवन का प्रत्येक पल आत्मिक चिन्तन में लगाया। आत्मिक चिन्तन से अभिप्रायः अपने अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करने से ही है। हमें जब भी सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने का जरा भी अवसर प्राप्त होता है तो हमारे सोचने का ढंग, कार्य करने का ढंग, हमारे व्यवहार करने के तरीके में बहुत अन्तर प्रतीत होता है।

प्रायः हमें शमशान घाट पर चिरपरिचितों के साथ जाने का अवसर मिलता है। हम देखते हैं कि वहाँ लोगों के चेहरों पर शान्ति एवं सन्तोष की झलक स्पष्ट नजर आती है और जब भी मुख से स्वर निकलता है उसमें भी एक अजीब सा भारीपन महसूस होता है। कुछ लोग आपस में बात कर रहे होते हैं "कि कुछ नहीं, ससार में बेकार के झगड़े हैं, तमाम बुराई भलाई लोगों से जीवन भर हम करते हैं, सामान ऐसे जुटाते हैं जैसे हमेशा यह साथ ही रहेगा परन्तु देखो यार साथ कुछ भी नहीं जाता" इन शब्दों में महत्वपूर्ण वास्तविकता का बोध हमें होता है। मानो वह शमशान घाट की खामोशी हमें चेतावनी दे रही है कि न जाने कितने अमीर गरीब, धनवान, निर्धन, बलवान, कमजोर, राजा और रंक को वह अपने आगोश में समेट चुकी है और एक दिन तुम्हें भी यहीं आना होगा। उस कुछ समय के वातावरण का प्रभाव साथ आये लोगों पर ऐसा पड़ता है कि वे लोग कुछ समय के लिये सभी वैर, विरोध, छल, कपट, द्वेष आदि दुर्गुणों से रहित हो गये हैं। यह स्थिति भी इसी तथ्य का समर्थन करती है कि जैसे ही हमें अपनी

स्थिति के बारे में बोध होता है। हमारे जीवन में सरलता, शाँति एवं आनन्द की अनुभूति होने लगती है। जिन लोगों ने इस अनुभूति को स्थाई रूप से अपने जीवन के क्षेत्र में प्रभावित मानकर कार्य किया है उन्होंने दुर्गुणों, दुर्व्यसनों एवं दुखों पर विजय प्राप्त कर अपने जीवन को सफल किया। उपरोक्त शमशान घाट की भावना यदि हमारे जीवन में स्थाई रहे तो हम भी देखेंगे कि हम तमाम उन दुखों से जो हमने अपने स्वार्थवश अपनी स्थिति की वास्तविकता को भुलाकर स्वयं पैदा किये हैं मुक्त हो जाते हैं। परन्तु आज तो मानव साँसारिक बन्धनों में इतना लिप्त हो गया है कि उसने अपनी पहिचान की परिधि को भी क्रास (Cross) कर दिया है और बिना मनन किये तेली के बैल की तरह कार्य करने में लगा हुआ है। परिणाम स्पष्ट सम्मुख उपस्थित है कि आज चहुँ ओर अनाचार अशान्ति और भय का वातावरण जन्म ले चुका है। इस दशा को ठीक करने के लिये दिन-प्रतिदिन मानव के कर्तव्यों का संशोधन एवं निर्धारण किया जा रहा है परन्तु स्थिति और अधिक बिगड़ती जा रही है। क्योंकि आज सामान्यतः विचारकों का मत है कि "हम क्या हैं?" इस प्रश्न को छोड़कर हमें केवल वर्तमान समय में इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि "हमको क्या करना चाहिये ?" मेरे विचार में यह उचित नहीं है क्या बिना अपने अस्तित्व पर विचार किये हम अपने कर्तव्य को जान सकते हैं ? यदि जान भी लें तो उन पर दृढ़ विश्वास होना असम्भव है। क्या कर्तव्य और अस्तित्व में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ? हमको बिना यह ज्ञान हुये कि हम क्या हैं ? यह कैसे पता चलेगा कि हमारा क्या कर्तव्य है ? हम संसार में देखते हैं कि भिन्न-भिन्न मनुष्यों के भिन्न-भिन्न कर्तव्य हैं। यह क्यों ? केवल इसलिये कि उनके पदों में भेद है। सभी राज कर्मचारियों का एक

ही कर्तव्य नहीं होता । सेनापति का वही कर्तव्य नहीं है जो कोषाध्यक्ष का है। यदि यह लोग यह जानने का प्रयत्न नहीं करते हैं कि मैं क्या हूँ ? तो वह अपना कर्तव्य कैसे पालन कर सकेंगे। यदि हमारे जीवन में इस प्रश्न के समाधान की जिज्ञासा उत्पन्न नहीं है और हम यह जानने के लिये निराश हो चुके हैं कि मैं क्या हूँ तो हमको शीघ्र ही इस ज्ञान से भी निराश हो जाना चाहिये कि मेरा कर्तव्य क्या है ? फिर इसके आगे कुछ कर्तव्य ही नहीं रहता और मनुष्य और पत्थर दोनों पर्यायवाची हो जाते हैं। फलतः यह तथ्य महत्वपूर्ण एवं एक दूसरे के पूरक हैं कि जव मुझे ज्ञान होगा कि मैं कौन हूँ तव मुझे मेरे कर्तव्यों का भी निश्चय होगा और मानव समाज कर्तव्यों का एक वण्डल है। प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ करता है इसलिये नित्य प्रति यह प्रश्न उठता है कि मुझे क्या करना चाहिये ?

"मैं" एक विश्वव्यापी शब्द है। वच्चे से लेकर बुढ्ढे तक और मूर्ख से लेकर बुद्धिमान तक सभी इसका प्रयोग करते हैं हम "मैं" का प्रयोग तो सैकड़ों बार करते हैं परन्तु वहुत कम लोग जानते हैं कि "मैं" क्या वस्तु है ? छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा आती है। एक विरोचन और दूसरे इन्द्र इन दोनों के मन में यही प्रश्न उठा और वे शिष्यभाव से प्रजापति के पास पहुँचे और प्रश्न किया कि मैं क्या हूँ ? प्रजापति उत्तर देने से पहले उनकी योग्यता की परीक्षा लेना चाहते थे इसलिये उन्होंने कहा "थाली में पानी भर लो और अपना मुख उसमें देखो अपने आपको देख सकोगे। उसमें तुम्हारे मुख तथा अन्यान्य अंगों की प्रतिछाया दीख पड़ेगी यही तुम हो। यदि किसी वच्चे से यह प्रश्न किया जाय कि तुम कौन हो ? तो वह अपने शरीर पर हाथ रखकर कहता है कि मैं

यह हूँ। यदि उससे पूछा जाता है कि क्या तुम अपने को देखते हो तो वह झट दर्पण लाकर अपने को देखने लगेगा और कहेगा कि मैं ऐसा हूँ। यही दशा विरोचन की हुई उसने अपने चित्र को जल में देखा और समझा कि जो कुछ रूप हमको जल में दिखाई दे रहा है वह ही हम हैं। उसने उत्तम-उत्तम वस्त्र धारण करके अपनी आकृति को जल में देखा और अपने सौन्दर्य को देखकर कहने लगा ओहो: हम कैसे सुन्दर हैं। प्रजापति ने इसकी प्रसन्नता देखी तो सोचने लगे कैसा मूर्ख है। विरोचन बड़ी प्रसन्नता से अपने साथियों में गया और कहने लगा "मैं" तो "मैं" का पता लगा लाया। तुम सब दर्पण आदि में देखकर अपने स्वरूप की पहचान कर सकते हो। जब इन लोगों ने समझ लिया कि मेरा स्वरूप यही है जो दर्पण में दृष्टिगोचर होता है तो वह उसी शरीर रूपी स्वरूप को परिष्कृत करने में तल्लीन हो गये क्योंकि उसने समझा कि शरीर को सुन्दर एवं सुदृढ़ करना ही अपने स्वरूप को सुदृढ़ करना है। परन्तु इन्द्र कुछ समझदार था। उसके मन में एक विचार तरंग उठी वह कहने लगा "अरे यदि वस्त्र आभूषण आदि ही मेरा स्वरूप है तो "मैं" कुछ भी नहीं। क्योंकि कपड़े मैले पड़ते ही मैं भी मैला पड़ जाऊँगा, आभूषणों के टूटते ही मैं भी टूट जाऊँगा। अतः प्रतीत होता है कि दर्पण में जो दिखाई पड़ता है वह मेरा स्वरूप नहीं हो सकता। वह कहने लगा "नाहमत्र भोग्यं पश्यामि।" "मैं तो इसमें कुछ भलाई नहीं देखता" इन्द्र की आशंका उचित ही थी क्योंकि जिन वस्त्रों को पहनकर हम अपने को सुन्दर बनाते हैं या जिनको उतार कर हम अपने को कुरूप कहते हैं वे वस्त्र हमारा स्वरूप कैसे हो सकते हैं। इन वस्त्रों को पहनना या उतार डालना तो हमारे हाथ में है। प्रश्न तो फिर ज्यों का त्यों रह जाता है अर्थात् वह मैं क्या हूँ। इसके अतिरिक्त

जव कुरता फट जाता है तो मैं कहता हूँ कि मेरा कुर्ता फट गया परन्तु मुझे ऐसा भान नहीं होता कि मैं फट गया हूँ। यही हाल शरीर से मैल अलग होने पर होता है। मैल अलग होने पर हमें कभी यह भान नहीं होता कि हम अपने को शरीर से पृथक कर रहे हैं। इसी प्रकार अंग काटने पर हम कभी नहीं समझते कि मैं कट गया हूं अर्थात् स्पष्ट है कि मैं शरीर नहीं हूँ। परन्तु ऐसे लोगों की संख्या आज वहुत अधिक हो गयी है जो शरीर को ही सव कुछ मानते हैं वह जन्म से पहले तथा मृत्यु के पश्चात अपने किसी अस्तित्व से इन्कार करते हैं। ऐसे लोगों के लिये यही लोक और परलोक है और मृत्यु ही उनके जीवन का अन्त है। ऐसे ही व्यक्तियों के लिये चरितार्थ है कि वह तो अवश्य ही ऋण लेकर घी पियेगा और जव तक जियेगा उस समय तक भोग-विलास में लगा रहेगा। परन्तु दूसरी ओर वे लोग हैं जो जानते हैं कि शरीर ही सव कुछ नहीं है इसके अन्दर एक ऐसा सूक्ष्म चेतन तत्व है जिसका शरीर के साथ संयोग का नाम जीवन है और जिसके वियोग का नाम मृत्यु है और वह जानता है कि जन्म के समय न मैं कुछ भौतिक सामग्री साथ लाया था और न मृत्यु के समय कुछ पदार्थ साथ ले जाऊँगा। ऐसा व्यक्ति अनावश्यक दूसरों को पीड़ा देकर अपने सुख साधन कभी नहीं जुटाता। वह इस संसार को सैरगाह न समझकर कर्मक्षेत्र मानता है और अपने सांसारिक जीवन में कर्तव्य और उत्तरदायित्व के महत्व को समझ कर ही संसार की वस्तुओं के प्रति स्वार्थमयी-संकुचित विचारधारा रखने से अपने तक ही नियन्त्रित रखने की दूषित भावना से उनका दुरुपयोग होता है। उसके विपरीत उन्हें ईश्वर की वस्तु मानकर धर्म, न्याय तथा उदारता पूर्वक उपयोग करने से उसका सदुपयोग होता है। सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य करने का तात्पर्य यह है कि

हम उनका ठीक उपयोग करना सीखें। अपने घर, जन, रुपया-पैसा से आप इतने न मिल जायें कि स्वार्थवश उनका उचित उपयोग भी न कर सकें। उन्हें हमें अपने काम में लाना है तथा दूसरों के हित के लिये व्यय करना है। अर्थात् जब हम संसार के पदार्थों के रहस्य को समझते हुये उनका उपयोग विकास की पूर्ति के लिये परमार्थ में करते हैं तो स्वार्थ, लोभ, तृष्णा जैसी बुराईयाँ हमसे दूर भागती हैं और हम कमल के पुष्प की भाँति ससार में रहते हुये भी संसार रूपी जल से निर्लिप्त रहेंगे। इस विवेचन से लेशमात्र भी यह अभिप्राय नहीं है कि हम अपने शरीर की उपेक्षा करने लगें बल्कि सबसे पहला मुख्य साधन हमारा शरीर ही है "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।" इसके द्वारा ही पवित्र धार्मिक कार्य करते हुये जीवन में कल्याण होना है। वास्तव में तो शरीर एक ढांचा है और जड़ है। यह स्वयं जड़ होने के कारण कुछ नहीं कर सकता। इसके अन्दर इन्द्रियों का और अन्तःकरण का निवास है ये सभी जड़ हैं इसके अतिरिक्त शरीर में एक चेतन आत्मा भी है जिसके अधीन ये सारे यन्त्र हैं और कर्मफलों के उपभोग तथा कर्म करने के लिए ही आत्मा को दिए गये हैं अर्थात् इस शरीर में हड्डियों का ढांचा बना हुआ है जैसे मकान बनाने के लिए पहले लोहे के गर्डरों का ढाँचा खड़ा करना पड़ता है फिर यह शरीर नसों से जकड़ा हुआ है जैसे लोहे के ढाँचे को पतले-पतले तारों से बाँध दिया जाता है फिर माँस और खून से इस पर लिप्पी की गई है जैसे मकान पर सीमेन्ट, रेता और सतने के पानी से की जाती है ऊपर से यह चाम से ढका हुआ है जैसे मकान को व्हाइट वाश और रंगरोगन से सजा दिया जाता है। यह भूख और प्यास से सदा व्याकुल रहता है। इस शरीर में ही हमारी अमूल्य निधि इन्द्रियां, मंन, बुद्धि और आत्मा स्थित हैं।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिस्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च (कठोपनिषद्) ३ (५७)

यह शरीर एक गाड़ी है जिस पर बैठकर जीवात्मा रूपी सवार अपने नियत मार्ग "ओ३म्" की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है परन्तु गाड़ी विना रथवान अर्थात् चलाने वाले के चल नहीं सकती। इसी कारण इस शरीर रूपी गाड़ी का सारथी बुद्धि है। जिस गाड़ी का हाँकने वाला चतुर हो वह गाड़ी इष्ट मार्ग पर पहुँच जाती है और जिस गाड़ी का सारथी शरावी हो वह गाड़ी गड्डों में जा गिरती हैं। ऐसे ही जिस मनुष्य के पास मेधा वुद्धि है वह तो मनुष्य जन्म के वाट को पूरा कर सकता है और जिसकी वुद्धि वुरी है वह वार-वार नीच योनियों में जन्म लेता है और अविद्या में फँसकर बुराई को भलाई विचार करता हुआ इस जन्म को नष्ट कर देता है। रथवान को गाड़ी के घोड़ों को वश में रखने के लिये जैसे घोड़े के मुँह में लगाम की आवश्यकता होती है उसी प्रकार इस शरीर की गाड़ी के सारथी बुद्धि के हाथ में मन रूपी लगाम है। यदि मन बुद्धि के वश में रहता है तो सम्पूर्ण काम सत्य होते हैं यदि मन विगड़ जाता है और बुद्धि की अधीनता से निकल जाता है तो सम्पूर्ण दोष आ घेरते हैं अतः इस उदाहरण से यह प्रकट किया गया है कि मनुष्य का मन और बुद्धि ठीक हो तभी वह कामयाव हो सकता है। यदि मन में दोष है अर्थात् मन मैला है या चंचल है तो गाड़ी किसी दशामें भी नियत मार्ग पर नहीं जा सकती यदि बुद्धि सारथी के सामने विद्या का प्रकाश नहीं तो इस गाड़ी को निकृष्ट मार्ग में डालकर नष्ट कर देता है। इस उपनिषद्-कार ने हमारे शरीर के व्यापार को उक्त प्रकार से स्पष्ट कर यही उपदेश किया है कि यदि हमें अपने अन्तर तथा वाह्य वातावरण

में शान्ति स्थापित करनी है, अपने जीवन को संतोष, शान्ति, उल्लास आदि दैवी सम्पदाओं से भरना है तो हमें सद्गुणों का ज्ञान स्वयं अपने अन्तःकरण में उत्पन्न करना चाहिये और यह तभी सम्भव है जब उपरोक्तानुसार अपने शरीर की स्थिति का ज्ञान हमें हो और उसी के अनुरूप हम अपने स्वार्थ का त्याग कर दुर्भावनाओं के संकीर्ण दायरे से निकलकर समानता, एकता और प्रेम के विस्तृत दायरे में निवास करें। पं० श्रीराम शर्मा आचार्य ने सत्य लिखा है कि "युद्धों का मूल कारण दूसरों के हितों की परवा न कर अपना स्वार्थ साधन करना है।" यह नीति जहाँ भी कार्य कर रही है वहीं कलह उत्पन्न हो रहा है। संकीर्ण दायरे में सोचने वाले विचारक अपने देश या जाति के लाभ के लिये दूसरे देश या जाति के अधिकारों की अवहेलना करने लगते हैं तो उनकी प्रतिक्रिया बड़ी दुखदायी और अशान्तिकारक होती है।

इसी प्रकार सभी भारतीय दर्शन आत्मा में विश्वास करते हैं और उसके यथार्थ स्वरूप की खोज करना चाहते हैं। आत्मा को खोज ही उपनिषद् से लेकर सांख्य, योग न्याय, वैशेषिक और वेदान्त की दार्शनिक जिज्ञासा का लक्ष्य था। सभी भारतीय दर्शन एक मत हैं कि दुख और बन्धनों का कारण मानव का अज्ञान है। अतः संसार के दुखों से छूटने का एकमात्र साधन सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना है। सभी भारतीय दर्शनों का लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष का अर्थ संसार से पलायन अथवा मृत्यु नहीं बल्कि जीवन का रूपान्तर साधन है जिससे मनुष्य संसार के दुख, कष्ट और मोहमाया से बचकर अपने यथार्थ रूप को जानकर नित्य आनन्द का जीवन व्यतीत कर सकें। आत्मदर्शन का लक्ष्य दुखवाद नहीं बल्कि आनन्द है। चूंकि सांख्य दर्शन के ऋषि कपिल

के अनुसार भी आत्मा और अनात्मा में विवेक किये विना ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता उनका विचार है कि आत्मा पर अविद्या का आवरण पड़ा हुआ होने पर ही आत्मा शुद्ध चैतन्यमय नित्यस्वरूप को नहीं अनुभव कर पाती है और जव तक आत्मा को अपने स्वरूप का भान न होगा तव तक वन्धन से मुक्ति असम्भव है। जहाँ तक आत्मा की सत्ता के प्रति संदेह का प्रश्न है यह सम्भव नहीं है क्योंकि उसकी अनुपस्थिति में कोई भी ज्ञान यहाँ तक कि सन्देह भी सम्भव नहीं है। अत: सत्स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त करना ही हमारे जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। हमारे सभी कार्यों का मूल्यांकन अन्त में इसी मानदण्ड से होगा जो कार्य इसमें सहायक हैं उन्हें शुभ कार्य कहा जायेगा और जो इसमें वाधक हैं उन्हें अशुभ या बुरा कार्य कहा जायेगा। नैतिक शुभ वही है जो अनन्त के साक्षात्कार में सहायक हो निसंदेह नैतिकता के अन्तिम मापदण्ड के रूप में आत्म साक्षात्कार इतना अधिक व्यापक मापदण्ड है कि हम अपने नित्य प्रति के कार्यों का नैतिक मूल्यांकन उसके द्वारा आसानी से कर सकते हैं।

"अध्यात्म" शब्द अधि + आत्म के योग से विनिर्मित होता है अधि + आत्म का शाब्दिक अर्थ है 'आत्मा में'। मन वचन तथा काया से होने वाले जितने व्यापार हैं उन सबसे उपरत होकर जव आत्मा अपने शुद्ध-बुद्ध आनन्द स्वरूप में मग्न हो जाता है तव वह वास्तव में "अध्यात्म" शब्द से अभिप्रेत तत्व को प्राप्त कहा जा सकता है "आत्मा में" अर्थात् "मैं" में। मैं का स्वरूप स्पष्ट होते ही जीवन में निरपेक्ष सत्य, शाश्वत, शान्ति और विवेक का प्रकट होना ही अध्यात्म शास्त्र का गुप्त रहस्य है। सांख्य दर्शन के अनुसार ज्ञान से मुक्ति होती है। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य भी ऐतिहासिक या भोगोलिक ज्ञान न होकर आत्म ज्ञान ही है। उपनिषद् कहते

हैं कि जो मनुष्य अपने जीवन में आत्म ज्ञान लाभ करते हैं उन्हीं का जीवन वास्तव में सार्थक है"। योगेश्वर श्री कृष्ण ने संक्षेप में निर्देश यही दिया है कि "स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते" यहाँ स्वभाव का अर्थ कोई अभ्यास विशेष नहीं है "स्वभाव" का अर्थ है "स्व" का भाव अर्थात् आत्मा का भाव" जिस आत्मा का ज्ञान सब ज्ञानों का शिरोमणि एवं मोक्षदाता है जो निर्बल से निर्बल शरीर-धारी का भी सर्वोच्च वल है जो आत्मा सत्यं शिवं सुन्दरम् से ओतप्रोत है जिसमें क्षणमात्र भी स्थित होने से पाप-तापों का नाश होता है और मुक्ति प्राप्त होती है।

इस प्रकार यदि हम अपने आत्मिक वल से परिचित हैं और तदनुसार व्यापार करने की क्षमता हमारे जीवन में होगी तो निश्चय ही हम उन इन्द्रिय रूपी उपद्रवी घोड़ों को स्वतन्त्र रूप से मनमाने रास्ते पर नहीं चलने देंगे वल्कि उनको वश में रखते हुये नियत मार्ग से चलाते हुये आत्मा को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये प्रयत्नशील रहेंगे और जिस प्रकार कछुआ अपने अंग-प्रत्यंगों को समेट लेता है वैसे ही अपनी इन्द्रियों को विषय वासनाओं से समेट कर हम अपने असली स्वरूप को कभी भी नहीं भूलेंगे और हम ऐसा कर पाये तो निश्चय जानिये कि ज्यों-ज्यों हम वाहर जगत में फैली हुई वृत्तियों को अन्तमुखी वनायेंगे तो हमें धीरे-धीरे दैवी विचार तथा ब्रह्म चिन्तन में रस प्राप्त होने लगता है वह गुण, कर्म और स्वभाव से पवित्र हो जाता है। नैतिक दृष्टि से हमारे जीवन में यह विचारधारा कितना परिवर्तन करेगी यह तो हमें इसे आत्मसात् करने पर ही विदित होगा।

अन्त में संक्षेप में इस विवेचन का यही सार है कि मानव को

अपने शरीर की ही पूजा में न लगकर उसी को साध्य नहीं समझना है वल्कि यह शरीर हमें उस साध्य को प्राप्त करने के लिये ईश्वर ने साधन दिया है। इसको ठीक प्रकार से रखते हुये अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये इसी से हमारा तथा संसार का कल्याण होगा। अतः समय रहते हुये आत्म निरीक्षण करो, अपने से प्रश्न करो? क्या मुझे आत्मा के नित्यत्व पर विश्वास है? क्या मैं अपना सारा समय शृंगार, प्रमोद, क्रीड़ा में ही वरवाद तो नहीं कर देता? क्या मैं इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार रखता हूँ? क्या मैं विषयों की ओर से मुख मोड़कर ईश्वर के प्रति अभिमुख हो रहा हूं? क्या मैं अनासक्त होकर संसार के समस्त कार्य करता हूं? क्या मेरे अन्तःकरण में सद्‌वुद्धि का राज्य है? क्या मैं निज संकल्पों द्वारा खराव से खराव अवस्था को वदल सकता हूँ? क्या मैंने मन की दुर्बलता को जीत लिया है? क्या मेरी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हैं? मैं आत्मा में कितनी देर तक लीन हो जाता हूँ? बस आज से उक्त प्रश्नों की लतिका तैयार करो और शुद्ध भावना से नंवर देना प्रारम्भ कर दो फिर हम देखेंगे कि हमारी उन्नति किस द्रुत गति से होती है। जैसे विद्यार्थी क्रमशः एक-एक कक्षा पार करके ऊँची कक्षाओं में चढ़ता जाता है उसी प्रकार हमें प्रयत्न करना चाहिये कि अपने विकास स्तर को क्रमशः ऊँचा उठायें। आज अपनी मनोभूमि जिस स्तर पर है कल उससे ऊँचे स्तर पर पहुँचें इसी प्रयत्न की विभिन्न प्रक्रियाओं को "आध्यात्मिक साधना" कहते हैं।

॥ ओ३म् शम् ॥

॥ ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त ॥

सं समिद्यु वसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥१॥

हे प्रभो तुम शक्तिशाली हो बनाते सृष्टि को ।
वेद सब गाते तुम्हें हैं कीजिये धन वृष्टि को ॥१॥

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ॥
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥२॥

प्रेम से मिलकर चलो, बोलो सभी ज्ञानी बनो ॥
पूर्वजों की भाँति तुम कर्तव्य के मानी बनो ॥२॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सहचित्तमेषां ।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥३॥

हों विचार समान सबके चित्त मन सब एक हों ।
ज्ञान देता हूँ बराबर भोग्य पा सब नेक हो ॥३॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥४॥
हों सभी के दिल तथा संकल्प अविरोधी सदा ।
मन भरे हों प्रेम से जिससे बढ़े सुख सम्पदा ॥४॥

॥ ओ३म्.॥

आर्य समाज के नियम व उद्देश्य

१–सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।

२–ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३–वेद सब सत्यविद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४-सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५–सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

६–संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७–सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वरतना चाहिए।

८–अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९–प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०–सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

आलोक प्रेस, डिप्टी गंज, मुरादाबाद।

॥ ओ३म् ॥

हमारे प्रकाशन

श्री महावीर सिंह 'मुमुक्षु' द्वारा लिखित :

१- सदाचार सुधा
२- उद्बोधन
३- आध्यात्मिक साधना

श्री यशपाल आर्यबन्धु द्वारा लिखित :

१ प्रार्थना विज्ञान।
२ ओंकार महिमा।
३ वेदों वाला ऋषि।
४ ऋषि का जादू।
५ कर्मफल प्रश्नोत्तरी।
६ सुमन संचय।
७ मृत्यु और उसका भय।
८ मृत्यु और उस पर विजय।
९ आर्य समाज ही क्यों ?
१० क्रान्ति दूत दयानन्द।
११ धर्म और विज्ञान।
१२ महामानव दयानन्द।
१३ सत्यार्थ प्रकाश दिग्दर्शन।
१४ आर्यसमाज क्या है ?
१५ मुझे आर्य समाज क्यों प्रिय है ?
१६ मानव निर्माण और आर्य समाज।
१७ विश्व को आर्य समाज की देन।
१८ आर्य समाज क्या चाहता है ?
१९ प्रखर राष्ट्रवाद के आदि प्रवक्ता।
२० हवन यज्ञ की वैज्ञानिकता।

साहित्याचार्य पं० बलदेव अग्निहोत्री द्वारा लिखित :

१ प्रभु है भी ?

प्राप्ति स्थान :

आर्यसमाज रेलवे हरथला कालोनी

मुरादाबाद - २४४००१